

कल सुबह होने के पहले

शलभश्रीरामसिंह

क ल सु ब ह हो ने के प ह ले

KAL SUBAH HONE KE PAHLE

सर्वाधिकार : श्रीमती कल्याणी सिंह। कविता-लेखक : शलभ श्रीराम सिंह। कविता-चयन : अलखनारायण और विजय बहादुर। पाण्डुलिपि : दयानंद और अतिबल। पाण्डुलिपि-अवलोकन : शिवमंगल। कवि का छायाचित्र : अतिबल।

प्रूफ-संशोधन : जयन्त। अंतिम प्रूफ-संशोधन : शलभ। कम्पोजीटर : कृत्यानन्द झा। प्रकाशन-सौजन्य : श्रीमती कल्याणी सिंह। विशिष्ठ सहयोग : अशोक-अनाम-उमेश शंकर। आवरण : श्याम अग्रवाल। मुद्रक : कुमार प्रिण्टर्स ५/बी, सुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता-७। मूल्य : पाँच रुपये मात्र। संस्करण-प्रकाशन : मार्च-१९६६

कविता - लेखक - सम्पर्क - सूत्र : आर्य पुस्तकभवन १८०, चितरंजन एवेन्यू—कलकत्ता-७

शिल्पी, ज्ञानोदय, उत्कर्ष, मराल, अलकावली, अन्यथा, अक्षर, दर्पण, माध्यम, आकार, संदर्भ, आधार, विद्रोही पीढ़ी, परंपरा, समिधा, नैवेद्य, अभिव्यक्ति और धर्मयुग आदि नवलेखन-प्रधान पत्र-पत्रिकाओं-संकलनों और आकाशवाणी कलकत्ता से साभार।

पाण्डुलिपि प्रकाशन

२९/प, काली दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता-५

फोन : ५५-६०४०

'कंकावती' की उस महान प्रतिभा को
जिसे लोग आतंक—घृणा और आत्मीयता के
स्वरों में राजकमल चौधरी कहते हैं।

भाषा अब वेश्या है। सबकी
आँखों में समायी हुई सबके होंटों पर
बसी रहती है। उसके विवस्त्र अङ्गों में
अब कोई अर्थ नहीं।
राजकमल चौधरी : ककावती : ११

इस किताब के मुखपृष्ठ पर खूनी रंग का एक धब्बा है। जिसे ग़ौर से देखने पर राख से ढकी ज़मीन पर घुटनों में सिर छिपाए एक आदम-शक्ल उभड़ती-सी जान पड़ती है। जिसकी पीठ पर ये शब्द **कल सुबह होने के पहले** खुदे हुए हैं साथ ही **शलभश्रीरामसिंह** भी पहली-पहली बार। इन शब्दों के पीछे शब्दों की ही एक लम्बी क़तार है। जिसे शीर्षकों की सहायता से बीच-बीच में काट कर बातों के रूप में अलग-अलग कर दिया गया है। बातें अपने-अपने ढङ्ग से आम तौर पर हर आदमी करता है। मुख्तलिफ़ बातों के बारे में लोगों की राय भी मुख्तलिफ़ [भिन्न] हुआ करती है। मसलन : इन्हीं में से 'कुछ बातों' के बारे में ओमप्रभाकर कहता है—शलभ की चारों संध्या-कविताएँ [ग्रीष्म-पावस-शिशिर-वसन्त : दर्पण-४] अत्यन्त उच्च कोटि की हैं। उनके बिम्ब अछूते और प्रभावशाली हैं। बड़े समीक्षकों को ऐसी कविताएँ नोट करके रखनी चाहिए ताकि 'बिम्बविधान' का अध्याय या 'नई कविता में बिम्बविधान' लेख लिखते समय उन्हें मजबूर होकर बार-बार शमशेर या भवानी प्रसाद मिश्र या किसी अन्य 'बड़े' कवि के ही बिम्ब-उद्धरण न देने पड़ें। कुछ के बारे में नरेश [नरेश सक्सेना] कार्ड भर बधाइयाँ देकर चुप हो जाता है। गोपाल [गोपाल उपाध्याय] कुछ को अपने पत्र [उत्कर्ष] में प्रकाशित करके दूसरे तरीक़े से अपनी राय देता है। बालकृष्ण—मिलिन्द—राजशेखर ज़बानी। भाई श्री **उदयभान मिश्र** को इनके यत्र-तत्र प्रकाशन से मेरी गतिविधि का पता चलता रहा है। भाई श्री **धर्मवीर भारती** के मन में इनके प्रति आदर भाव है। श्री गोपेश [गोपीकृष्ण] एकाध [दर्पणों के बीच] का अंग्रेजी में अनुवाद करके अपनी राय ज़ाहिर करते हैं। ऐसे ही नीलम—नवल और शंकर क्रमशः तारीफ़ और बखिया-उधेड़ अन्दाज़ में एक साथ बात करते हैं। विमल [विमल वर्मा] इनमें से सिर्फ़ एक बात [धड़कनों में कहीं] को कविता मानता है और अलख—शिवमंगल खामोश रहना पसंद करते हैं। चन्द्रमौलि इन्हें धर्मवीर

भारती की परम्परा के विकास की कविताएँ कहता है और भाई कृष्ण बिहारी मिश्र [समिधा-सम्पादक] इन्हें पढ़ और सुन कर जो भाव व्यक्त करते हैं उसके संदर्भ में पृथ्वीनाथ शास्त्री—हर्षनाथ और रजनीपनिकर आदि कई लोग याद आ जाते हैं। श्री विष्णुकान्त शास्त्री को कुछ बातें अस्पष्टता के बावजूद आज के जीवन की विसंगतियों का बोध कराती जान पड़ती हैं। इसी क्रम में थोड़ा हट कर सकलदीप सिंह को इनमें आंचलिक जड़ नक्काशी के साथ 'गुनाहों का देवता' भी दिखता है और अवधनारायण सिंह आस्थाहीनता के अभाव में इन्हें आज की कविता कहने में संकोच-बोध करते हैं। कुछ के बारे में हिन्दी की एकदम नई कहानी-कविता-लेखिका सुधाआरोड़ा के अनुसार ऐसे प्रतीक अंग्रेजी कविताओं में ही मिलते हैं और विजयबहादुर लिखने बैठता है मुझको खत—लिख मारता है मेरी बातों पर टिप्पणी। एक नमूना पेश है—'शलभ की कविताएँ यानी धूमकेतु की कविताएँ एक साथ जिनमें मूल्यों की गतिमानता और प्रतिष्ठा। एक तटस्थ परीक्षण समय का। समय जो अपना हिसाब किसी को नहीं देता। अपना राज़ किसी को नहीं बताता। शलभ ने उसे ही उससे छीन लिया है। कहते हैं शलभ 'नवगीत'—'नई कविता के गीत' या 'गीत' का कवि है। मैं कहता हूँ वह केवल कवि है जो सब कुछ लिख सकता है और जो कुछ भी लिखता है वह सब कविता है क्योंकि उसका संवेदन ही ऐसा है। इसीलिए शलभ जैसे किसी कविता-लेखक को टुकड़ों में बाँटना साहित्य के प्रति अपराध है जो मुझसे नहीं होगा। शलभ की कविताओं में जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा है वे बेहद और गहरे ढङ्ग से सामाजिक हैं। वैयक्तिक मूल्यों की चर्चा वह नहीं करता क्योंकि वैयक्तिक मूल्यों की आपाधापी ने ही सामाजिक मूल्यों को बदनाम कर दिया है। साहित्य की व्याख्याएँ इतनी वैयक्तिक हो गई हैं कि मर्यादाओं का इतिहास बदल गया है। उसका चेहरा उसके रौब-दाब में ऐसा भयानक हो गया है कि वह इतिहास नहीं लगता। भूत लगता है। शलभ उसी भूत के पीछे हाथ धोकर पड़ा है। वह इतिहास को ज़िन्दा और भूत को मुर्दा देखना चाहता है। ज़िन्दा इतिहास के कन्धों पर खड़े होने की उसकी इच्छा इसलिए है कि वह अपने समय के साथ विवेकपूर्ण ढङ्ग से जुड़ना चाहता है। इतिहास और क्या है एक परम्परागत जातीय अनुभव ही है। इससे परिचित होने का प्रयास शलभ की सभी कविताओं में मिलता है। शलभ को अपनी बात कहने का ढङ्ग मालूम है। वह ऐसे कहता है जैसे नाटक का पात्र कहता है। उससे भी कहीं अधिक

आत्मीय ढङ्ग से। वही होकर। वही बन कर। इसीलिए शलभ जो कुछ भी कहता है प्रभावशाली ढङ्ग से। क्योंकि उसका ढङ्ग उसकी बात की तरह बिल्कुल ताजा और मौलिक है। एक साथ कई भावों को प्रस्तुत करने की झूठी साज़िश उसमें नहीं मिलती। इसीलिए उसकी कविता में सब कुछ अमिश्रित है। घोल नही। जहाँ जो है उसे वहीं रहना चाहिए। शलभ अपनी कविताओं को यह रूप कैसे देता है—यह भी एक राज़ है। राज़ यह कि उसे कविता लिखने का नशा नही है। इसीलिए जब वह लिखता है तो अकृत्रिम भाव से। अकृत्रिम मनःस्थिति में। घर हो या बाहर! और हाँ, वह कभी अपनी कविता पर बात नहीं करता। जब कभी बात करता है अपनी बीबी-बच्ची के बारे में या दोस्तों के हालात पर। इसीलिए वह साहित्यकार [तथाकथित] जैसा नहीं लगता और इसीलिए वह कविता लेखक है। वस्तुतः कविता-लेखक। शलभ **हिन्दी कविता की सम्भावना** है। **भारतीय कविता की सम्भावना** है। परिवेश में यदि दम-ख़म होगा तो शलभ की सम्भावना उपलब्धि का रूप धारण कर सकेगी। शेष फिर कभी।' अनाम कश्यप कभी-कभी इन बातों को सुन या पढ़ कर चश्मा-उतार लेता है और मेरे चेहरे पर आँखें गड़ा कर अफलातूनी अन्दाज़ में कहता है 'ठीक है—ठीक है' और धनञ्जय सिंहल इन्हें सुनने के बाद सिर्फ़ मुसकराता है। मुसकराता है बस! **अशोक—शंकर** और **कमल** इन सारी बातों को शायद सबसे ज़्यादा सही ढङ्ग से महसूस करते हैं और मैं :—

पहचानता हूँ ठीक अब अपनी दिशा
जो कुछ रहा था भरम, अब नहीं रहा।

नीलकान्त : विद्रोही पीढ़ी : १४

शब्दों की लम्बी क़तार : बातें और बातें में उल्लिखित नामों वाले लोग मेरी दृष्टि में केवल मित्र—शुभेच्छु और समझदार पाठक मात्र हैं। बस!

बातें और बातें : शब्दों की लम्बी क़तार

कलकत्ता : ११ मार्च '६६ —शलभ

कल सुबह होने के पहले

ख़ुश होता हूँ :
गुलाबों को पैरों से रौंद कर !
कमल-सरोवर में
पागल हाथियों का झुण्ड देख कर !
हरी-भरी फ़सलों पर
ओले बरसा कर गये बादलों को
धन्यवाद देकर !
सचमुच बहुत ख़ुश होता हूँ !
और
खिड़की से बाहर झाँकने लग जाता हूँ !
राशन की दूकान वाली भीड़ में
खलबली मचती है !
एक सेर चावल के लिए
दो आदमी मर जाते हैं !
दो आदमी !! एक सेर चावल !
दो अर्थियाँ !! कई जुलूस !!!

मैं कुहासे में
किसी नीली चोटी वाली पहाड़ी का होना
महसूस करता हूँ !
और एक नन्ही खामोशी के बाद
इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि :
कल सुबह होने के पहले
हर आदमी को
गुलाबों को पैरों से रौंदना ही होगा !
कमल-सरोवर तक
पागल हाथियों का झुण्ड
लाना ही होगा !
हरी-भरी फ़सलों पर
ओले बरसाकर गये बादलों को
धन्यवाद देना ही होगा !
सचमुच खुश रहने के लिए······
कल सुबह होने के पहले······ !

कल सुबह होने के पहले
[१९६४]

बहुत ही नन्हे-नरम दो हाथ
छू रहे हैं पीठ—गर्दन—माथ
खाँसियों में फेफड़े का दर्द ढलता है !
दिन निकलता है !

खिड़कियों से फ़र्श पर कफ़ गिरी
रैक—टेबिल—खाट पर बिखरी
सीढ़ियों—सड़कों—दोराहों पर
जिसे ओढ़े
बिलबिलाता नगर चलता है !

आखिरी क़तरा लहू का: शाम !
एक बदसूरत अँधेरा: व्यस्तता का
व्यवस्थित परिणाम !
टूटने को नसें खिंचती हैं
धड़कनों में कहीं पर फ़ौलाद गलता है !
दिन निकलता है !

धड़कनों में कहीं
[१९६५]

जलयानों ने सौंपा तट को विश्राम !
हुगली की लहरों में
डूब गई शाम !

ट्रामों—कारों—रिक्शों पर बैठा है शहर !
थकी-थकी आँखों के आगे है केवल घर :
बच्चे की सालगिरह (?)
पत्नी की बीमारी (?)
भाई का ब्याह (?)
कहीं जाने की तैयारी (?)

आओ,
ऊपर चलें !
पुल के ऊपर चलें !
ऊपर-ऊपर चलें !
हाँ-हाँ अब घर चलें !

दिशा-दिशा लटक गईं नागिन की केंचुलें !
क्षितिजों की खिड़कियाँ शायद कल फिर खुलें !

हावड़ा पुल की शाम
[१९६३]

दर्पणों के बीच
अपनों को ढूँढता,
प्रतिबिम्बों से बातें करता,
मैं किसी अजनबी शहर में आ गया हूँ !
जहाँ
नल पर नहाती सुबहें
फाइलों पर झुकी दोपहरें
और
खाँसती-बीमार रातें
एक पल भी चैन से जीने नहीं देतीं !
जाने कहाँ छूट गई !
छूट गई—वह धूपवाली एक टुकड़ा बदली : माँ !
ईरानी गुलाब की शाख : पत्नी !
धानी पत्तियों वाली ईख : बहन !
नीम का नौधा पेड़ : भाई !
और
रोशनी-भरा पूरा का पूरा आसमान : पिता !
दर्पणों···को···इस···भीड़···में···सब···के···सब···खो···गये !
प्रतिबिम्बो !
अरे ओ प्रतिबिम्बो ऽऽ !!
क्या तुम में ऐसा कोई नहीं जो इन सब की याद भुला सके ?
कुछ नहीं सिर्फ़ 'दोस्त' बनकर
मेरे साथ
रह सके ! जी सके !! गा सके !!!
कोई तो आगे बढ़ कर जवाब देता !
क्या सचमुच तुम में ऐसा कोई नहीं !
सचमुच कोई नहीं······ !
सचमुच कोई नहीं············ !

दर्पणों के बीच
[१६६३]

याद आया आज अपना गाँव !
हाँ, मसोढ़वा गाँव ! ऊँचवा गाँव !
नीम-महुआ-आम-पीपल की घनेरी छाँव ! अपना गाँव···!

यह धोबहिया और बीभाताल-वह चन्दनशहीद !
वह असलिया और होलिया याद आते आज !
याद आते हैं कँटिअवा के करौंदे !
वह गड़हिया के किनारे का करियवा
और
उत्तर के बगीचे का नुनहवा आम !

याद आता है मदरसे का कुआँ—कँटवास—डिह का थान-
काली का चउतरा !
वह दखिन की चमरवट—वह हँसवापुर गाँव !
याद आती है नहर में डूबती-सी शाम !
खत्म कर घर का सभी छोटा बड़ा हर काम
सोचती होगी 'जलाऊँ आग!' माई
और आँगन में बिछाये चारपाई—लेट,
आजी···कर रही होंगी अभी विश्राम।
झर रहा होगा नयन से नीर
कहती जा रही होंगी स्वयं से :
क्या न आयेगा कभी श्रीराम ?

याद आती है पिता जी की बहुत ही
और वह श्रीदेव !
[अब तो हो गया होगा सयाना !]
और विमली !

[हाय, राखी के बिना सूनी कलाई आज भी सूनी पड़ी है।]

वह मिडिल स्कूल !
परमा—बिक्रमा—सनकेस—रौपरसाद !
भाले—प्रेमनारायण—भुआले और बाघे !
मिसिर—चचई और नत्थे !
कन्तिया !
कन्तिया : पीछे रही जो एक साल।
हो रहा था आठवें का इम्तहान
तब मुझे उसने दिये थे
क्रैफ्ट के सामान !

याद आते हैं बहुत सरपंच !
जिनको लोग कहते थे कभी पागल ! और जिनके साथ
भटका हूँ कभी मैं—कविरहा—बबुरा—लवइया—सेतपुर तक !
एक लम्बी साँस लेकर—बन्द कर आँखें—सहज ही सबों से जो
कहा करते थे : खा गया मैं सड़क पर चलते हुये हर आदमी को !
रेलगाड़ी—बैलगाड़ी···और मोटर···और स्टेशन···!
और साँड़ों की तरह जो डकरते—भरते ठहाके—ज़ोर से सुर साध गाते थे
'लड़िगई···लड़िगई···लड़िगई···लड़िगई
अँखियाऽऽऽ श्याम सुँदर सों ऽऽऽऽ···!'

याद आते हैं बहुत जयराम !
याद आती आज अवधू की—बदल की !
याद आते हैं बहुत वितई और सिवदास—चन्दी !
याद आते हैं बहुत निर्भय और बिसुनाथ !

आज शौकत और छब्बू याद आते !
याद आते हैं तुफानी और बन्दे !
याद आती आज राधे की—भजन की !
आह ! स्थिति ही बिगड़ती जा रही मन की !

याद आता है चैत का भोर—सावन की अँधेरी रात !
पास अपने हिनहिनाता लग रहा है घोड़कराइत साँप !
मन रहा है काँप—थर-थर कर रहे हैं पाँव !
याद आया आज अपना गाँव !

अपना गाँव
[१६६२]

मेरे दमघोटू-टूटे परिवेश में
एक सूरज है
जो मित्रता का
संघर्ष पूर्ण जीवन जीने के लिये वाध्य है !

एक अमोला है
जो महत्वाकांक्षा की
किसी निश्चित ऊँचाई तक
बढ़ रहा है...... !
बढ़ता जा रहा है !

बिखराव के वोध से विंधा
टूटी पंखुरियों वाला एक गुलाब
मेरे आस-पास खिले रहने की चेष्टा करता है !
गुलाब : मैं आज तक
नहीं गा सका हूँ जिसकी गंध !
नहीं दे सका हूँ जिसकी पंखुरियों को क्रम !
वही टूटी पंखुरियों वाला गुलाव मेरे आस-पास
खिले रहने की चेष्टा करता है !

मेरे दमघोटू परिवेश में-
जी रहा है एक सूरज !
बढ़ रहा है एक अमोला !
खिल रहा है टूटी पंखुरियों वाला एक गुलाब !

सूरज : अमोला और टूटी पंखुरियों वाला गुलाब
[१९६३]

गुमसुम
कछारों से
लौटती—उदास हवा !
अनमने रक्त पलाशों की चुप्पी पर तैरते
उल्लूकों के पंख-स्वर !
पद-चापों से विदा माँगती
पगडण्डियाँ !
आपस में
भेद की बातें करते
ईख—अरहर के खेत !

अपराधी मौसम की यह साँझ
गलती के शेष क्षणों के नाम !

मसोढ़ा की एक निजी साँझ
[१९६२]

प्रतिमा !
अरी ओ प्रतिमा !
बन्द दरवाज़ा—तुम्हारी दस्तकें !

जब हवा में उड़ा है आँचल तुम्हारा
मुझे माँ की याद आई है !

जब रुकी हो
विदा के क्षण—विरम जाना-
याद आया है बहन का !
और
सिरहाने खड़ी होकर
तनिक मुझ पर झुकी हो जब
पूर्णता की छुअन से
मैं धन्य होकर रह गया हूँ !

और
जाती बेर
जब देखा तुम्हें तो
लगा खिड़की से सटी
चुपचाप
गीताञ्जलि खड़ी है
और चारों ओर बिखरी हैं हज़ारों पुस्तकें !
बन्द दरवाजा—तुम्हारी दस्तकें !
प्रतिमा !
अरी ओ प्रतिमा ऽऽ !

पूर्णता की छुअन : वेल्लूर-आवास की एक निजी कविता
[१९६४]

आज की यह शाम
कुछ भीगी-भीगी सी लग रही है !
मैदान में उगी घास का मुँह पीला पड़ गया है !
पेड़ों के साये सर्द हो चले हैं !

ओ, मेरी वसन्त तिलके !
तुमने वही आँसू वाला गीत
साँझ के झुटपुटे में
डूबते सूरज की ओर देखकर
गाया है !
या फिर-
पिछवारे के अमोले की डाली झुकाकर
आँचल के छोर से
पलकों के गीले होंठ सहला दिये हैं !

उतरौजा की एक निजी शाम की स्मृति-प्रतिक्रिया
[१६६१]

गर्मी की उमस-भरी दोपहरी !
सलाखों से तीर की तरह भीतर पैठती धूप !
मेरे हाथों में एक आईना है !

भीगे बालों वाली एक लड़की
हाथ में भरी हुई बाल्टी लिये
सीढ़ियाँ चढ़ रही है !
एक गीत है सम्पूर्ण परिवेश को घेरता ।
उसके आगे-पीछे एक आहट है ।
परिचय—आत्मीयता और वायदों की आहट !

जीवित होती है चिट्ठियों की परम्परा !
होती है शंका की बीमारी ।
रिश्ता बदलता है ।
[रिश्ता बदलने से मन नहीं बदलता]
चिट्ठियों की परम्परा मर जाती है !
धूप की तेज़ी खत्म हो जाती है !
भीगे बालों वाली लड़की जूड़ा बाँध लेती है !

गीत अब भी तैरता है !
आहटें आज भी आती हैं !
सिर्फ आईना टूट गया है !

आईना टूट गया : लखनऊ की एक निजी दुपहर
[१९६१]

गुनगुनाती हुई साँझ के आँगन में
चिड़ियों के पीछे किलकते हुए
शिशु-सा कोलाहल !
मेरी आंखों के आगे
डालियों के फूल हवा में तैर कर
खामोश किलकारियाँ पिये जा रहे हैं !
रंग-वर्षी बादलों के नन्हे शिशु
मेरी बरौनियों तक झुक कर कहते हैं :
मैं मन्नू हूँ !

एक झटका-सा लगता है ।
मेरे हाथ की किताब
टाफी का डिब्बा बन जाती है !
साँझ का सम्पूर्ण वातावरण मन्नू
और मैं उसका चाचा···!

साँझ और मन्नू[1]
[१९६१]

---

१ : रचनाहेतु : सामुदायिक विकास कार्यालय के तत्कालीन कृषि सहायक भाई सत्यनारायण शर्मा की छोटी बच्ची का घर-नाम ।

मृत्यु !
जब उच्चारता हूँ तुम्हें
ध्वनित होता है सहज नारीत्व !
नारीत्व : जिसको
देखते-सुनते-परसते-भोगते
स्वयं को रीता हुआ-सा लग रहा हूँ मैं !
या कि उसके साथ
वर्षों-दिनों-घड़ियों-क्षणों में बीता हुआ-सा…!

मृत्यु !
जिसके स्तनों का दूध
मेरी धमनियों में रक्त बन कर बह रहा है
तुम कभी वह लगीं !
और जिसके हाथ का धागा कलाई पर बँधा है
तिलक माथे पर लगा है
तुम कभी वह लगी ! साक्षी है पर्व राखी का !

मृत्यु !
जिसकी एक पैनी दृष्टि से बिंध कर
बन गया मैं अर्द्धमृत शाश्वत,
कहा था जिसने सुलगती दुपहरी में एक दिन
'प्यार की सौगन्ध खाकर कहो—
भूलोगे नहीं मुझको !'
तुम कभी वह लगी !
और जिसके साथ बरियाईं मुझे बाँधा गया था
धनुष पर सीमन्त के शर-सा मुझे साधा गया था
शास्त्र ने अर्द्धांगिनी की जिसे संज्ञा दी

तुम कभी वह लगीं !
मृत्यु !
जिसके घुँघरुओं की झमक
ज़िन्दगी की तेज़तर रग पर
छू गयी है सधे नश्तर-सी
तुम कभी वह लगीं !
कभी तुमको मक्खियों की भीड़ से मैंने घिरी पाया !
किन्तु
सबके बाद
तुम में कहीं दर्पण की तरह कुछ है
और उसमें कई अंशों में बँटा मैं दिख रहा हूँ !

ग़रज़ यह मैं सदा तुम में रहा
तुम्हें गाया ! जिया ! तुमको सहा !
और फिर मैं आज
जब कुण्ठा भरी इस भीड़ में बिलकुल अकेला हूँ
आओ ! मृत्यु, आओ !
आज फिर आँचल उढ़ा दो मुझे !
राखी बाँधकर टीका लगा दो फिर !
करो—खिड़की खोल—मिलने का इशारा करो !
नाचो ! मुसकराओ !
ज़िन्दगी का अर्थ समझाओ !

बढ़ो ! मेरे सामने तुम हाथ अपना करो !
मैं स्वयं को रखूँगा उस पर !
बढ़ो—जल्दी बढ़ो—आगे करो अपना हाथ !
और···यदि यह सब नहीं सम्भव

सुला दो ! लोरियाँ गाकर सुला दो

मुझे जल्दी तुम !

नीं···द···में···शा···य···द···अ···के···ला···

प···न···न···र···ह···जा···

मृत्यु ! जब उच्चारता हूँ तुम्हें

ध्वनित होता है सहज नारीत्व !

ध्वनित नारीत्व

[१९६४]

कंधे पर
सूर्य को बिठाये
डूबता—असहाय क्षितिज !
अहिल्या चट्टानों पर
पागल अजगर-सा
सिर पटकता
अथाह समुद्र !
तट पर खड़ी
मायूस सुबह
डैनों में
आकाश बाँध कर भागती-
चील को निहार रही है…!

ज़िन्दगी : आज के परिवेश में
[१९६३]

हथेलियों पर
अकस्मात्
किन्ही खण्डित सूर्यों का
स्थिर हो जाना
इस बात का साक्षी है कि :
समय
किसी अतीत भविष्यवाणी की परिधि
जीते हुए
लाल बत्तियों की रोशनी में
अपना रास्ता तय कर रहा है !

लक्ष्य और जीवन के बीच की दूरी
क़रीब-क़रीब ख़त्म हो चुकी है !

लाल बत्तियों की रोशनी में
[१९६६]

दूर—जंगल से
गुज़रते हुए
घोड़ों की टापों से
आस-पास की बस्तियों में
सन्नाटा छा गया है !

किसी
बेहद हँसमुख और मासूम
बच्चे की खाल
उधेड़कर मैदान में फेंक दी गई है !
ईश्वर
उसी खाल के नीचे छिप कर
अपने आपको
सुरक्षित महसूस कर रहा है !

ईश्वर का सुरक्षा-कवच
[१६६६]

ांस-पेशियों की
घेड़-बुन में गुम
क पूरी शताब्दी
किसी बन्द हो रहे पिरामिड के नीचे
पनी नियति से बँधी
निःशब्द—निष्कम्प खड़ी है !
क बीती हुई ज़िन्दगी
ताब्दी की सम्पूर्णता से भी बड़ी है !
हाँ तक कि :
पिरामिड के पत्थर को
लट कर
ाहर आ जाने वाला इंसान भी
उससे छोटा है !

आठवें आश्चर्य के बाद
[१६६६]

क्या हो
इन पुकारते पुष्पमुखों
और
कर्मठ हाथों का !
जब सूर्य होने का पर्याय
महत्वहीन दृष्टि संस्पर्शों को भोगता
अँधेरे में चमकता जल मात्र है !
जहाँ
मत्स्य-क्रीड़ा का कोई क्षण
मौन को किञ्चित् खण्डित कर
अस्तित्वहीन हो जाता है !

काश !
यह पूरा का पूरा आकाश
टूट कर गिर पड़ता !
यह मौन शाश्वत अंत पा जाता !
× × ×
हिमस्तम्भों के टूटने का स्वर सुनाई पड़ रहा है !
सम्भावनाएँ स्वागत को प्रस्तुत हैं !
विश्राम !
ओ, बन्धु !
अब मुझे छोड़ कर न जाओ !
नये प्रभात के हाथों में
सद्यः प्रस्फुटित ज्योति पुष्प है !
जल की सतह पर उसका होना
समूची सृष्टि को नया अर्थ दे रहा है !
ओ, बन्धु विश्राम !
अब मुझे छोड़ कर न जाओ !

नया अर्थ
[१९५५]

अँधेरा
जो हमारे चतुर्दिक्
व्यूहबद्ध प्रस्तुत है
जानता है : हार चुके हैं हम
जुवे में अपना सूर्य !

हमारे सीमान्त की रक्त-ध्वजा
उखाड़ने की चेष्टाएँ कर रहा है वह !
अनिश्चय-पाश में बाँधी जा रही है हमारी सुबह
इस से पूर्व कि मै
सहानुभूति में झुके हुये
तुम्हारे मस्तकों की अर्थवत्ता को शब्द दूँ
आगे बढ़ो और अपने तेज़ दाँतों से
मेरा सीना चाक कर डालो !
और मेरे कलेजे को आस्तीनो से रगड कर
अपने हाथ हवा में तान दो !
इससे एक नई सुबह दिग्भ्रमित होने से बच जायेगी
न सही सीमान्त की रक्त-ध्वजा
आस्तीन का लहू तो है !
आस्तीन का लहू :
जिसे आने वाली पीढ़ियाँ
(इतिहास मान कर ही सही)
नये अर्थों और नये संदर्भों में
जीने—समझने की कोशिश करेंगी !

परम्परा है
बीमार कम्पोज़ीटरों की गर्भवती पत्नियों के
अस्पताल जाकर—खैरात में दवा लाने की!
चूल्हा फूँकने और माथे से पसीना पोंछ कर
हाँफने की! रोती बच्ची को-
पहले पुचकारने—पीछे थप्पड़ मारने की!

परम्परा है
खूबसूरत चेहरों के
आदमक़द आईनों के सामने मुसकराने की!
गालों पर पाउडर की तह जमाते हुये सोचने की!
अच्छी शामें बिताने के नाम पर
क्लबों और होटलों में जाकर
प्यालियाँ और बाँहें बदलने की!

परम्परा
[१६६५]

इस विस्तृत-वीरान काल-खण्ड पर
उकड़ूँ-उदास बैठी है एक दूरी ।
दूरी : जो हरम से धक्के देकर निकाल दी गई है !
ख्वाबगाहों से ज़लील होकर लौटी है !
क्योंकि : यह, वह नहीं थी
जो अधिकांश थे !
: इसने वह नहीं जिया
जो अधिकांश जीते हैं
: वह नहीं देखा
जो अधिकांश देखेंगे !
यह तो सिर्फ़ एक तिरस्कृत दूरी है !
ज़लील - उदास - थकी - हारी दूरी—मात्र दूरी !

ताजमहल : मात्र दूरी
[१९६५]

एक याम : रुमाल में रखकर सूरज निचोड़ती !
एक अन्तर : दर्पण के भीतर-बाहर !
एक सृष्टि : कमल के अन्तस् में विकसित-
स्खलन का प्रकारान्तर से सम्पादन !
एक अनुभूति : छूने गयी बाँसुरी; सूँघ आई साँस !
बबूल की छाल पहने—मुँह में कमल-नाल लिये
चीखती पोपले मुँहवाली एक संस्कृति !

मदर रोमा : एक अ-काव्यात्मक विश्लेषण
[१६६४]

रगों में जो हमारी दौड़ता है
लहू है—आग जल्दी पकड़ता है !
अब
इसे बाहर निकालेंगे
और खुद पर ही उछालेंगे !

बन्धु !
यदि तुम पर कहीं पड़ जायँ छींटे
सोचना...................... !
अच्छा न लगने पर इन्हें धोना !
और यदि भा जायँ
तो यह मान कर : उनमें कहीं हम हैं
उम्र भर महसूस करना :
प सी ने में न हा ते ब हु त दि न बी ते !

बहुत दिन बीते
[१९६५]

एक—सिर्फ़ एक बार पलक झपकी
बिजली की कौंध से
सब कुछ प्रकाशित हो गया !
हवा तीर की तरह सीधी हुई
कोई सूखा समुद्र
औंधे मुँह नीचे उतर आया !
जिसकी परिधि में
जीवन का अर्थ ढूँढा जा रहा है।
व्यर्थ ढूँढा जा रहा है
क्योंकि
वह क्षण अभी गर्भस्थ है
जो
समुद्र को सिर पर उठा कर
हवा को बीच से काटे,
प्रकाशित परिवेश को
बिम्ब-ग्रहण की क्षमता प्रदान करे।
जिसमें
भीतर-बाहर के अन्तर से
हम, एक-दूसरे को पृथक-पृथक दिखें !
गढ़ें-परखें-लिखें !

गर्भस्थ क्षण
[१६६६]

जिस
दिशा में
गया है मेरा मित्र
उधर से ही
आ रही है यह भयानक आँधी
मुँह पर ज्वालामुखी का मलबा पोते !
आशीर्वाद देने वाले
अपने-अपने घरों में
आराम से बैठे होंगे !
बड़े बरे होंगे !

ग्रीष्म-संध्या
[१९६५]

सींग टूट जाने की
प्रार्थना को जीता माँड़
खन्दक में गिर गया !
उसके प्रतिद्वन्द्वी ने
मुँह घुमा लिया !
अब तो
रक्त-स्राव औंदे
रौंदी ज़मीन भर शेष है !

पावस-संध्या
[१९६५]

दलदल मात्र-
रह गई झील के तट पर
कोई
नृशंस आदिम
आग जला कर
बैठा है !
मुँह लगा कर
निचोड़ रही है
उसे
एक कमसिन लड़की !

शिशिर-संध्या
[१६६५]

उन आँखों की चमक
बढ़ गई है
जिनमें
अँधेरे के पार
प्रतीक्षार्थिनी थी
एक सुबह !
खिल गया है
वह मुख
जिसके प्रकाश में
चल रही है
यह अन्तहीन यात्रा !
यात्रा जो शुरू नहीं हुई !

वसन्त-संध्या
[१९६५]

आकाश का
बीच से खम हो जाना
किसी भयानक संत्रास अथवा भय का
द्योतक नहीं।

संतुलन की अनिवार्य शर्त के अनुसार
हवा का हर झोंका
एक-दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी है।
किन्हीं अज्ञात देशों की
मिट्टी का
संस्कार लेकर
कर्णातीत सुरों में बद्ध
संगीत की अनगिनत नदियाँ
निरन्तर बहती चली जा रही हैं।

आग के इस गरजते समुद्र में
रक्त-पुष्प से अस्थि-सेतु तक
सब कुछ सुरक्षित है!

किरणों का प्रकाश-वर्षीय यात्रा-संस्मरण
अतीत और भविष्य की सीमाओं से परे
ठण्डे सूर्यों के हाथ से खिसक कर
किन्हीं
युवा अंधी आँखों में
समा गया है!
जिनका
एक साधारण दृष्टि-निक्षेप
प्रलय के अस्तित्व को

नकारने में सक्षम है !

शायद इसीलिए

आग के इस गरजते समुद्र में

रक्त-पुष्प से अस्थि-सेतु तक

सब कुछ—सब कुछ

सुरक्षित है !

आग के गरजते समुद्र में

[१९६६]

अद्‌भुत है यह
चिड़ियों को चहकते
और
बच्चों को खेलते हुए देखना !
अपने हाथों
ज़मीन खोदकर
पेड़ लगाना !
मित्र को
उसकी प्रिया के साथ गाना और जीना !
और पहले पहल महसूस करना :
कितनाऽऽऽ बड़ा है यह आकाश !
आदमी···आऽऽऽऽऽदमी जिसके नीचे
तनकर खड़ा है !
चिन्तन भी एक परिधि स्वीकारने को बाध्य है !
कहाँऽऽऽविस्तारता है अपने को आखिर यह आकाश !
कितनाऽऽऽबड़ा है···कितना बड़ा है यह !
मात्र अणु के समक्ष विज्ञान बिखर कर रह गया !

हमारा बोलना
किसी कारखाने के
चलते रहने की सूचना मात्र है
या फिर
लोहे के ग़ुलामों को
जोत रक्खा है हमने अपनी गाड़ी में !
जो किसी भी क्षण
अपनी स्वतंत्रता का स्वप्न देख सकते हैं !

बर्फ़ के समुद्र में
न जाने कहाँ होंगे हम !
उफ़ ! डाऽऽयनाऽऽ सोर्स…… !
कितना आलसी था !

रंगों के पार
देखने में
असमर्थ हैं हमारी दृष्टियाँ !
कितने खुश हैं हम
चिड़ियों को चहकते
और
बच्चों को खेलते देख कर !

खुश रहना बड़ी बात है !
ज़मीन खोद कर पेड़ लगाना
शायद इससे भी बड़ी बात है !
दूसरों का सुख जीना
और भी बड़ी बात है !
और
पहले पहल कुछ महसूस करना
सबसे बड़ी बात है !

असमर्थ दृष्टियाँ : सबसे बड़ी बात
[१९६५]

चारों ओर
बिखरे पड़े हैं
मांस के लोथड़े
हड्डियाँ-आँखें-दाँत और अँतड़ियाँ !
मँडरा रहे हैं
चील-बाज़-कौवे और गिद्ध !
जल गया है
सारा का सारा नगर !
अब
इस विस्तृत
सुनसान राज पथ पर
मैं अकेला चल रहा हूँ !
मेरे पीछे-पीछे
चल रहा है
एक खौफ़नाक काला शेर !

आगे
खुला हुआ नीला आसमान
और
लहलहाती हुई फ़सल है !
दूर
किसी सिवान के कुएँ में गूँजती आवाज़ को
चुनती एक छाया
मुझे देख कर भाग जाना चाहती है !
मैं अनिच्छा से उसकी ओर बढ़ रहा हूँ !

सामने
एक सीधा-समतल

पातालगामी ढलान है।
पसीना छूट रहा है मुझे !
जाने कब फिसल जाएँ पाँव
और .... और सामने की रंग में डूबी ज़मीन
पानी के ऊपर उछलती मछलियाँ
और
पेड़ों की हिलती टहनियाँ
मुझे छोड़ कर
कहीं चली जायँ × × × × और रह जाय सिर्फ़
पीछे-पीछे चलता खौफनाक काला शेर !

यश की सम्भावना
[१९६५]

रातों को कभी-कभी जागता है श्मशान !

श्मशान : चिटकता-चिरायँध से भरा-धुँधुआता !

कुत्ते फोड़ते है हड्डियाँ !

सियार तोड़ते हैं खोपड़ियाँ !

ढेर सारी आँखें

छिटक कर

यहाँ-वहाँ हो जाती हैं !

पसर जाती हैं अधपकी अँतड़ियाँ !

छिड़ता है सियार और कुत्तों में युद्ध

हवा

समय से फ़ायदा उठाकर

मुट्ठियों में

सड़ाँध भर कर भागती है !

बस्तियों तक पहुँचती है सन्नाटे की टूटन !

विधवायें सोचती हैं चक्की पीसने की बात !

सुहागिनों को याद आता है चौका-बासन !

कुमारियों के इर्द-गिर्द

क़हक़हा उछालते हैं सपनो के राजकुँवर !

बड़े-बूढ़ों को चाहिये

हुक्का-चिलम-आग !

खेतपर जाते बैलों की घण्टियाँ बजती हैं !

सुबह का होना निश्चित जानकर

कटोरों में दुबके गिद्ध

अनुमानते हैं चिरायँध की दिशा !

रातों को कभी-कभी जागता है श्मशान !

चिरायँध की दिशा

[१९६४]

सुनो ! ओ हमें जन्म देने वालो !
हम तुम्हारे ऋणी आत्मज नहीं
क्षणजीवी सच्चिदानंद के मूर्त रूप हैं !

तुम्हारे
हित-संदर्भ में
हमारा
कुछ भी करना या सोचना
कर्त्तव्य नहीं
आदमीयत है !
रूढ़ अर्थ-बोध के अभाव में
इसे कुछ और भी कहा जा सकता है !
किन्तु;
हम असमर्थ न होते हुए भी
उसे संज्ञा नहीं देना चाहते !
सड़क पर
यों ही रुक कर
नीचे देखना
यात्रा की गति को खण्डित कर देता है !
और हम ऐसा कोई भी काम
करने की स्थिति में नहीं हैं !
सुनो ! ओ हमें जन्म देने वालो !

रूढ़ अर्थ-बोध के अभाव में
[१९६५]

रिसते नासूरों से
गिरते मवाद को
धोने के पूर्व
गली उँगलियों वाली
अनगिन हथेलियाँ
सिर पर फिरती हैं !
यह
नया जीवन
जीने से पहले
मैं स्वयं के प्रति नतमस्तक हूँ !

नया जीवन जीने से पहले
[१९६२]

ओ शिशादेही !
मेरे पीछे चलने का अर्थ कुछ भी नहीं है !
मैं कुहासे में चीखती
एक नदी को समर्पित हूँ !

अभी-अभी
इधर से गया है
कोई अकालग्रस्त देश।
कई उजड़े नगर—ग्रामों को घसीटता।
कटे हाथों वाली
किसी रक्त-नहाई गली के पीछे
रह गया है
एक अनचीन्हा भविष्यत् !

लौह अश्वों की वल्गा थामे
इधर ही आ रहा है एक युग !
सोने की आँखों वाला !
भयानक अट्टहास करता—
इधर ही आ रहा है !
उसके रथचक्र
इस अचीन्हे शिशु भविष्यत् को
रौंद डालेंगे !

मैं काल पुत्र हूँ !
क्रिया का प्रहरी !
प्रस्तुत हूँ यहाँ युद्ध के लिए !
भविष्य-हत्याकाण्ड की पुनरावृत्ति शुभ है !

मास्तिष्किक स्नायु-तंतुओं के बंधन से
समय को मुक्त कर दो !
एकान्त-अन्वेषण की उपलब्धि
केवल पश्चाताप है !

जाओ !
लौट जाओ !
ओ शिखादेही !
मेरे पीछे चलने का अर्थ
कुछ भी नहीं है।
मैं कुहासे में चीखती नदी को
समर्पित हूँ !
युद्ध के लिए प्रस्तुत हूँ !

काल पुत्र का वक्तव्य
[१९६४]

कुहरा ही कुहरा !
अंधकार ही अंधकार !
घुटती हुई नदियाँ—सुलगती पहाड़ियाँ !
और मुझे निगल जाने को प्रस्तुत
एक आदमखोर रेगिस्तानी शाम !
इतने सारे लोगों के थूके एकान्त पर बैठ कर
मुँह में एक पूरी धुँधुआती चिता लिये
मेरे चेहरे पर अँधेरा फेंक कर
समूचे अस्तित्व को दबोच लेती है ।
और ज़ोर-ज़ोर से दाँत पीसती है !
चौकन्नी है महज इस ख़याल से कि :
शायद न उड़ा सकीं हों आँधियाँ
गये हुए कबीलों के सारे के सारे पद-चिह्न !
शायद हवा में कहीं जीवित हों
पीछे छूट गये लोगों की गुहारें !
शायद इधर से गुज़र जाये
दूर नख़लिस्तान में गूँजती बाँसुरी की आवाज़ !
इसीलिए
मेरे समूचे अस्तित्व को दबोच कर
सिर्फ़ दाँत पीसती है···पीसती रहती है···!
यह आदमख़ोर रेगिस्तानी शाम !

आदमख़ोर रेगिस्तानी शाम
[१९६४]

खिड़कियाँ जो खुली हैं इस वक्त,
इनमें—कहीं कोई एक चेहरा है तुम्हारा !
और नीचे सड़क पर चलती हुई इस भीड़ में
अब भी कहीं मैं हूँ !
और अगले मोड़ से शायद शुरू होगी
वह अँधेरी गली
रोशनी में नहाकर जो
सूखने के लिए गीली हवा को आकाश में लटका,
झुकाये आँख अपनी छातियों को देखती थी
और लेकर आड़ अपने खुले बालों की
रगड़ती थी उन्हें घुटनों से !
उस समय भी कहीं पर तुम थीं
और मैं भी ...!

दो कविताएँ
[१९६३]

शक्तिशाली—हाँ, बहुत ही शक्तिशाली है समय यह !
अन्यथा परिचय बताकर—मैं उपेक्षित नहीं रहता !
कहीं ऐसा तो नहीं : मैं आज तक केवल कथा-नायक रहा !
अभिव्यक्ति का माध्यम : जिसे केवल निजी सुविधा-हित-
निर्मित किया था, कथालेखक ने !
क्या यही सच है कि त्रेता में—अयोध्या के यशस्वी राजकुल में
जन्म जिसने लिया था—वह कुछ नहीं था।
मात्र कथ्याधार !
कथ्याधार : दशरथ-अजिर में जो विचरता था !
किया जिसने ताडका का वध—अहिल्या का किया उद्धार !
जिसको देख—सारे जनकपुर के 'नयन बिनु बानी' हुए थे !
मात्र कथ्याधार ! जिसने पिता के आदेश पर सब राज सुख त्यागा-
और वन-वन फिरा चौदह वर्ष तापस-वेष धारे !
क्या दशानन सदृश योद्धा का किया था उसी ने संहार !
नहीं—निश्चित नहीं—वह नहीं था मात्र कथ्याधार !
वह था योगिनोऽस्मिन् रमन्ते !
रमन्ते योगिनोऽस्मिन् : अहम् !
अहम् : दाशरथेय-राघव-राम !
जिसके सामने है—
एक लम्बी यात्रा का अन्त-अनुसन्धान !
यात्रा : निर्लक्ष्य !
शाश्वत अन्त !
अन्त : जिससे जुड़ा है संदर्भ जीवन का !
रोटियाँ-कपड़े-मकान !
मान-मर्यादा-प्रतिष्ठा !
लक्ष्य करके जिसे युग का अर्थतान्त्रिक

पढ़ रहा है मन्त्र··· !
और फेंके जा रहा है घुटन-कुण्ठा-टीस-टूटन !
उग रहे हैं पत्तियों पर महल !
आदमी पर यन्त्र !
तांत्रिक पढ़ रहा है मंत्र
और मेरे सामने है वही शाश्वत अन्त !
वन-वन फिर रहा हूँ मैं !
वन : जहाँ पर उगी हैं लाशें !
बोलती-हँसती-किलकती-सिसकती या चीखती··· !
जो स्वांग कर फिर रही हैं स्वाँग जीवन का !
नक़ल करना भी नहीं आता जिन्हें असली हँसी का ।
मकर-क्रन्दन रुदन का पर्याय है जिनके !

एक युग बीता भटकते हुए इस देही विजन में
मत्स्यगंधी मोड़ भी आये हज़ारों !
नालियों को देखकर यह भान भी होता रहा है
अन्न जैसी वस्तु भी उपलब्ध है शायद यहाँ पर !
किन्तु
भूखे पेट बढ़ता जा रहा हूँ इसी आशा में-
बहुत सम्भव है कि हो अवशेष कोई तृण अभी तक
भीलनी की जीर्ण कुटिया का !
और उस पर धरी हों उसकी सजल आँखें !
जो सहज ही विदा बेला में अचानक उमड़ आई थीं ।
और जिनके तीर बैठी लग रही थी
एक लम्बी अवधि वाली वापसी की वह प्रतीक्षा
[आज तक जो चल रही है]
काश ! वे आँखें कहीं होतीं !

उन्हें ही मैं समझ लेता बेर !
क्योंकि अब ऐसा नहीं कोई
कहेगा जो : आँ ख मि ल नी की ना थ खा ये !

साक्षी आखिर बनेंगे अग्नि किस-किसके ?
और किस-किसके लिए उद्विग्न-पागल बनेंगे पवनेय ?
लोहे के भयानक आदमी ने मार डाला
मौन कुहरिल साँझ की आँखें बचाकर
भाव-शासित वेदना के मूर्ख आत्मज को !
एक लम्बी भीड़—चारों ओर मेरे—धरणिजाओं की लगी है।
स्वर्ण मृग ने—जिन्हें पीछे छोड़ देने के लिए है किया मुझको बाध्य !
किस-किस के लिए मैं कहूँ अनुजों से कि जाओ छोड़ आओ इन्हें वन मे
पाण्डुवर्णा सभी—सबके पाँव भारी हैं !
स्वर्ण प्रतिमा बनेगी किसकी ?
और किस-किस को मिलेंगे वाल्मीकिन् !
कुश नहीं होंगे !
अकेले लवों का दल सामने से गुज़र जायेगा !
और सिर पर हाथ देकर सोचता ही रहूँगा मैं :
दिग्विजय का अश्व मेरा घूम आयेगा धरा सारी ?
नहीं रोकेगा उसे कोई ?
षट्काण्डी ही रहेगी नयी रामायण !
क्या वनों में ही रहेंगी जनक-नन्दिनियाँ ?
नहीं आयेंगी अयोध्या में कभी भी ?
क्या किसी लव को न आयेगी पिता की याद ?
हार कर क्या मुझे अपने आपको ललकारना होगा !
जूझना होगा स्वयं से ही अँधेरे में ?
स्वयं पर करना पड़ेगा घात-प्रत्याघात ?

स्वयं से खानी पड़ेगी आज मुझको मात ?

अपनी ही धमनियों में उबलते रक्त से करना पड़ेगा स्नान ?

अन्ततः मैं रह न पाऊँगा अहम् या राम !

केवल आत्महन्ता !

आत्महन्ता मात्र !!

शक्तिशाली समय और आत्महन्ता

[१६६४]

लोहे की सलाखों पर
बूँदों की पर्तें
और पुराने काग़ज़ पर
स्टेन्सिल किये गए
नई रोशनी के चित्र !

दीवालों पर लगे
विगत कई वर्षों के
खड़खड़ाते कैलेण्डर
और
वहीं टँगी
राम—कृष्ण—ईसा—बुद्ध की
ये सारी हिलती तस्वीरें……!
और
चोट खायी कबूतरी की तरह—
पंख फड़फड़ाती–
मेरे कमरे की यह खिड़की ··
और
मेरी बरौनियों तक झुका
यह पूरा का पूरा आसमान…… !

नई रोशनी के चित्र
[१९६१]

गहराइयों में डूबते महासागर।
हाँफती बदलियाँ।
आकाश के माथे की शिकन।
गये हुये वसन्त की वापसी के नाम!

मेले में भटके हुए शिशु-से
दिवस—मास—वर्ष
न बोलने की सौगन्ध खाकर बैठ माटी।
बाँसुरी के आकुल रन्ध्र।
सिवानों की साँझ।
नये गीत और नई ज़िन्दगी के नाम!

सुबह की कच्ची धूप।
दूब के होंटों पर कुनमुनाती शबनम।
नम—रेतीली घाटियाँ।
अस्थिर—अनिश्चित दिशाएँ
शास्वत गतिशील पाँवों के नाम!

वसीयत
[१९६३]

ये किसी मीनार-शीर्ष की भाँति
अपने ही होने के संदर्भ पर
टूटकर गिर जाना चाहते हैं।
पीली घास की
चोटियाँ पकड़कर घसीटती हवाओं को
रोकने के लिए
इन्हें टूटकर गिरना ही होगा !
क्योंकि :
छिद्रों को समर्पित है इनका अन्त !

ये अपनी पूर्व तरलता को
पुनः प्राप्त होना चाहते हैं।
ताकि :
इन्हें आवश्यकताओं के अनुरूप
स्वीकारा जा सके !
इन्हें, इनके ही नाम से पुकारा जा सके !
ये, एक-अनेक के बीच रहना चाहते हैं !
धरती-आकाश में एक साथ बहना चाहते हैं !
इन्हें टूट कर गिरना ही होगा !

समकालीन
[१९६५]

शून्य में स्थिर है एक अग्नि-शिखर!
शिखर पर ज्वालामुखी पक्षियों का आवास है।
जहाँ अनगिनत क्षुधित विस्फोट
प्रकाश की मृत्यु-कामना कर रहे हैं!
संसार अब अंधकार-युक्त-विस्तृत नहीं
प्रकाशमान और सीमित है!

इक्कीसवीं शताब्दी
[१६६६]

अभी-अभी चली गई है ट्रेन !
कानों में पानी की तरह
रह गई है सीटी की आवाज़ !
ज़रूरत से ज़्यादा सामान लेकर
सफ़र करने के जुर्म में
रात भर मुसाफ़िर खाने में क़ैद रहना होगा !

सुबह समाचारपत्रों के मुखपृष्ठ पर
टूटेगा कोई पुल !
स्थगित यात्रा की पीड़ा
अप्रत्याशित सुख में बदल जायेगी !

अप्रत्याशित सुख
[१६६६]

अचानक जवान होने का अहसास······
कि जैसे सब कुछ·· सब कुछ बदल गया !
तालाब की गहराई में
चाँद को पहरों निहारने के बाद
पत्थर फेंक देने की इच्छा हो गई !
अनिद्रा की सार्थकता अर्थहीन-सी लगने लगी !

एक ही पंक्ति की पुनरावृत्तिः वितृष्णा ! उत्तेजना—आदेश—
प्रेरणा : एक संस्कार-त्रिकोण । ब्लैकआउट : अंधकार की शरण !
साइरन : आदिम नगाड़ों का खींच कर लम्बा कर दिया गया स्वर ।
कहीं कुछ भी भयानक अथवा गम्भीर ?
नीले आकाश पर मांस के लोथड़े जैसा कोई धब्बा ?
हवा का आचरण शब्द-वहन के अतिरिक्त कुछ नया ?
मिट्टी को किसी नये रंग की तलाश (?)
आदमी के अंगों में कहीं कोई वृद्धि ?
किसी नई मछली की उड़ान ?
शायद कुछ नहीं ! कुछ भी तो नहीं !

क्या हुआ ?
अगर किसी नदी ने बदल दिया अपना रास्ता !
स्थानान्तरित हो गया कोई समुद्र !
ज़रूरत है
नई फ़सल के लिए उपजाऊ ज़मीन
और सूर्य को आईना दिखाने वाली ऊँचाई की !

युद्ध : एक कविता
[१९६५]

तरतीब में
या तो मकान रह सकते हैं
या फिर दरख़्त !
आदमी नहीं ! आदमी नहीं !!

संस्कार और व्यवस्था की
बे-आवाज़ टूटन
अँन्धेरे में गाँव शहर की तरह
अपने होने का संकेत भर देती है !

नाली से घुसकर
साँप का मकान के किसी कोने
चुपचाप बैठ जाना
या
रेंग कर कोटर में दुबकना
कोई मानी नहीं रखता !
केवल
रात को झगड़ कर सोये पति—पत्नी
सुबह विप-सूचना बन जाते हैं !
नीड में शिशु पाँखियों के खुले चचु नहीं दिखते !
घर की हर चीज़
क़रीने से अपनी-अपनी जगह होती है !
शाखो के तनाव में कोई कमी नहीं आती !
ना ही हवा के संगीत पर
नाचती पत्तियों पर कोई असर पडता है !
क्योंकि : मकान और दरख़्त तरतीब में हैं !
साक्षी : मृत माता की छाती से मुँह लगाये बच्चा-
घोसले पर मँडराती दुखी-उदास एक चिड़िया !

विप-सूचना
[१६६५]

शहर में
कौवे नहीं रह गये !
आओ !
छत पर खड़े होकर
राहगीरों पर पत्थर फेंके !
उनकी झुँझलाहट पर हँसें !
तालियाँ बजायें
और
गालियाँ सुनें !

आओ ! आओ !! आओ !!!
हमारा होना जानकर
छत पर
कोई भी लड़की
बाल सुखाने के लिए
नहीं आयेगी !
खिड़की से सट कर बैठा कवि
नोबुलप्राइज़ी सपनों की लाश पर
एलिजी पढ़ता हुआ उठ जायेगा !
आओ, छत पर खड़े होकर
राहगीरों पर पत्थर फेंकें !
शहर में कौवे नहीं रह गये अब !

बेकारी के क्षणों में
[१९६४]

जो कहता है :
हवा में छलाँग भरूँ
और लपक कर चन्द्रमा को दबोच लूँ।
और किसी स्याह समुद्र के तल में ले जाकर
उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ।
और धड़कनों की उमीद पर
ज़िन्दा टुकड़ों को
पैरों से कुचलता रहूँ !
और आखिर में घृणा से कब पर थूक दूँ।
फिर
किसी मछली को
गोद में लेकर
ऊपर उठूँ।
ऊपर : जहाँ पहाड़ियों से घिरा
'मेरा' छोटा-सा कमरा हो।
कमरा : जो सिर्फ़ लाइब्रेरी हो।
और एक आदमक़द आईना''' !
आईना : जिसमें मैं स्वयं को नंगा देख सकूँ !
नंगापन : जो मेरा हो !
मेरे जैसे दुनिया के उन तमाम लोगों का हो
जिन्हों ने कुछ सही सोचने के लिए
ज़िन्दगी भर सरायबाज़ी की है !
सर्दी मे बीवी को ठिठुरते
और बच्चों को मरते देखा है।
दोस्तों की मेहरबानी का बोझ
न सम्हाल पाने के कारण

आत्महत्या तक करने का निश्चय किया है !

[एन्जिल और अशोक से क्षमानिवेदन सहित]

जिन्हों ने एक कप चाय के ऊपर

पहरों उपदेशनुमा बकवासें सुनी हैं

और शाम को

उदास मन

खाली हाथ

थके पाँव

घर लौट आये हैं !

कमरा : आदमकद आईना और नंगापन

[१९६४

एक कहानी का प्लाट !
शिल्प—प्रेम—संस्कार जैसे
ढेर सारे शब्दों की तरह
एक और बे-मानी शब्द !
बात कहीं से भी शुरु की जाय
कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता ।
कार—चमूनम—रेज़र—राजकुमारी
सोसायटी गर्ल—फ़्लर्ट—जादूगरनी या परी !
अथवा यों कहा जाय—
एक अदद शर्बरी !
कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता ! नहीं पड़ता !

किसी ख़ास शीर्षक से
कई सफ़ेद पन्नों पर
सरपट दौड़ता—
आँखों से देखता,
कानों से सुनता,
एक दिलचस्प-सा मतलब !
मतलब: गोश्त के
किसी काफ़ी चुस्त-दुरुस्त लोथड़े पर
कहीं बीच में
बड़ी सफ़ाई के साथ
एक बार चाक़ू फेर दिया गया है !
रोशनदान से आती धूप की सीध में
छलकने को प्रस्तुत
किसी नन्हे बच्चे की उँगलियों का रंग !
उड़ानें भरने को

बिल्कुल तैयार
एक जोड़ा कबूतर !

सब कुछ अलग-अलग
केवल शर्वरी का !
शर्वरी के लिए !
हू-ब-हू ऐसी ही !

शर्वरी ! शर्वरी !
कि इस नाम को दुहराते-दुहराते
जोरों से
पुकारने की तबियत हो जाय
और
अपनी ओर उठी बहुत सारी आँखों को देखकर
हैरत या शर्मिन्दगी का अहसास तक न हो !
दरअस्ल :
पतली-सुनहली कमानी का
चश्मा लगाये
एक मत्स्यकन्या : विज्ञापन-प्रतिनिधि !
हिरोइन बनने के इरादे से
घर से भागी हुई एक लड़की !
एक्स्ट्रा—ऑर्डिनरी एकदम !
दो ठोस मांस-पेशियों वाली पहाड़िन जाँघें !
युनिवर्सिटी-हॉस्टल के लान में
चहलक़दमी करती
कमसिन-सी सेठज़ादी !
कुल मिला कर महज एक अदद शर्वरी !

सड़कों का चिपचिपाहटजीवी शोर !
लैम्पपोस्टों से लिपटी
मायूस ख़ामोशी !
मकानों की छतों पर
घुटनों में मुँह छिपा कर
बैठा सन्नाटा !
मोमबत्तियों और उँगलियों की सीमा से परे
एक फटा हुआ ब्लेडर : बिना बच्चेदानी का पेट !
यह सब भी सिर्फ़ एक अदद शर्बरी !

कई व्यक्ति स्वरूपों और स्तरों में बँटी : मिस !
ऑफ़िस के टाइप राइटर से जूझती : स्टैनो !
टेलीफ़ोन के नम्बरों से माथा-पच्ची करती : रिसैप्सनिस्ट !
शराब के पेग में ढलती
बदबूदार डकारों को पीकर—
नक़ली-मुलायम मुसकराहट बिखेरती—
ठण्डे दूध की धार पर बहती
एक जवान औरत !

आँखों में क्षोभ ।
होंटों पर सूजन ।
पीठ पर नाख़ूनों के निशान
और
गालों पर दाँतों की चुभन :
एक मांसल अय्याशी का नमूना !
एक छेद : जिसमें
आंशिक रूप से प्रवेश कर

रात भर रिसी है एक इच्छा !
और सुबह
तकिये के गिलाफ
और बिस्तरे की चादर पर
यहाँ-वहाँ—जहाँ-तहाँ
टपक गई—चू गई !

और अब
टूटते-सिकुड़ते माथे
और पेट पर फिरते मजबूर हाथ के सिवा
कहीं कुछ भी नहीं है !
बाहर, गली में खेलते बच्चों के पिता
या तो हैं ही नहीं—
या फिर उनका नाम
किसी खास पोर्टफोलियो के साथ
चिपकने के लिए सुरक्षित है !
पिता होना या कहलाना
बकवास या जुर्म जैसी कोई बात है शायद !
शताब्दियों से एक साँप
बाँबी में सिर छिपाये,
लाठियों की चोट सहकर ऐंठ रहा है !
और यह शर्वरी
जिसका
किसी बुद्ध—ईसा—गाँधी—नेहरू—कैनेडी
लेनिन—हिटलर—मुसोलनी
मार्क्स—अरस्तू—प्लेटो से
दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं !

ज़ुलेखा—कीलर—मनरो की क्षमता भी
उसमें क्षीणतर है !

जिन्हों ने
मनपसंद रंग के लिए
हाथ की उँगलियाँ काट डालीं !
जिन्हों ने
कोई नारा बुलंद किये बग़ैर
अपने को सबों में बाँट दिया !
जो सुबह से शाम तक
भीड़ बन कर जीते रहे !
जिन्हों ने
सार्त्र—कामू—काफ़्का को नहीं पढ़ा !
पूरब—पश्चिम को
चिन्तन और विवेचन के स्तर पर
नहीं समझा !
नही जिया !
उनके बीच
उनके लिए
शर्वरी
सिर्फ़ एक अदद शर्वरी !

एक अदद शर्वरी
[१६६६]

क्या किसी के मन में
कभी भी यह विचार नहीं आता कि—
इस सड़क को एक सिरे से पकड़ कर
हवा में फटक दें !
ताकि—यह भीड़ और इस पर का सब कुछ
गर्द की तरह झड़ जाय !
नये सिरे से बिछायें कुछ लोग फिर इसे !

हर कोई
इतना सघन संतुलन
बनाये रखने में असमर्थ है !
सब के सब
प्रतीक्षा कर रहे हैं—
किसी सामूहिक मृत्यु
अथवा
सर्वनाश की !

बहुत बुरा है
पानी के लिए
आकाश की ओर निहारना !
पेट भरने के लिए
ग़ैर ज़रूरी ढंग से हाथ—पाँव मारना !
सचमुच बहुत ही बुरा है !

बीमार चेहरों की भीड़ में
ख़ुद को ज़िन्दा रख पाना : एक अहम सवाल !
सब के सब दुस्साहसी हैं !
किसी का कोई भविष्य नहीं है !

नहीं आता होगा इसतरह का कोई विचार !
कोई भी विचार नहीं आता होगा !
क्योंकि :
आजकल सभी आईनों के सामने—
जाने से घबराते हैं !
ऐसे में अक्सर
सब के सामने होता है एक आदमी
जिसके जबड़े शेर की तरह भयानक
और आँखें जंगली भैंसों [उनकी आँखों]
की तरह होती हैं !
एकदम सुर्ख-जलती आग-सी आँखें !
उसके मुँह से टपकती
लहू जैसी राल से
छनकर आती आवाज़
ज्वालामुखी की गड़गड़ाहट की तरह
कानों में पहुँच कर
सब को भीतर तक शून्य कर देती है !
रग—रग में उतर जाती है
पिघले हुए शीशे की तरह !

लगता है:
सब की धमनियों में
गंदी नालियों का सड़ा हुआ पानी बह रहा है !
जिसमें प्यास और बुढ़ापे से संत्रस्त
कुत्ते—बिल्लियों और नाजायज़ बच्चों की लाशों के साथ
अनुरागवतियों द्वारा फेंके गये
उनके सपनों की लाशें

और ऐसा ही बहुत कुछ है
जिसे गंदगी के नाम से पुकारा जाता है !
वह आदमी सब से हाथ हिलाकर कहता है :
मैंने तुम्हारे देश की धरती को
हरे-भरे खेतों समेत उखाड़कर
इस्पात के खम्भों पर टाँग दिया है !
हरियाली वहाँ
धुएँ और राख की शक्ल में उड़ रही है !
अबतक वह इतनी घनी हो चुकी है कि—
लोग
एक-दूसरे को
कोशिश के बावजूद
नहीं पहचान पाते !
कभी-कभी तो खीझ कर
अपने ही मुँह पर
थप्पड़ मार लेते हैं !
मक्खियों की तरह भिनभिनाते
और पागलों की तरह चिल्लाते हैं और वह
हँसता है ! सिर्फ़ हँसता है ! ! हँसता रहता है—
एक भयानक हँसी !

एक सीमित अँधेरे के बाद
होने के नाम पर
लोगों को सिर्फ़ सुबह का अहसास होता है ।
बड़े से बड़ा चक्कर लगाने के बाद भी
हर आदमी अपने ही पास होता है !

कुछ भी नहीं रह गया है कहीं

"सृष्टि की नींद पर उड़ती—
त्रिकोण पखुड़ी : चन्द्रमौलि उपाध्याय"
और नपुंसकों की जमात के सिवा ।
[केवल अपनी पत्नी के लिए : राजकमल चौधरी]
इतिहास बने लोगों की दुहाई देकर
नये राष्ट्र-नई चेतना
और
नये समाज का नारा लगाने वालो !
सिर्फ़ बातों तक महदूद हो तुम !
तुम्हारी इस कमज़ोरी से फ़ायदा उठाकर
आईनेवाला वह इंसान
एक दिन ऐलानिया कहता फिरेगा :
दुनिया में था एक देश
जिसने
पहले इतिहास
और
पीछे क्लीव पैदा किये
और अन्त में
स्वयं भी
इतिहास बनकर रह गया !

पृथ्वी तब भी सूर्य की परिक्रमा करेगी !
सूर्य में तब भी विस्फोट होंगे !
ग्रहों का संतुलन पूर्ववत् रहेगा !

एक अहम सवाल
[१६६६]

हमारे पिता—
दे गए हैं हमें—बीच से कटी हुई
एक-एक औरत ! ब-क़ौल उनके :
ये उन्हें—उस हर रास्ते में
मिली है
जिन पर
उनको चलना पड़ा है !
जब उनकी यात्राएँ—अचानक
एक दूसरे से जुड़कर
समाप्त हो गईं—उन्होंने
इन्हें बीच से काट कर
आधी-आधी
उस जगह गाड़ दी
जहाँ वे आख़िरी बार रुके थे !

आज भी वहाँ
हवा में उठे
उन कई जोड़ा तलवों में
अनेक यात्राएँ
अन्त पाती हैं !
यात्री
आख़िरी बार रुक कर
दो और नये तलवों की जगह बना कर
कंधों पर
आधी-आधी औरतें लिये
घरों की ओर
लौट पड़ते हैं !

हमारे घरों में पटी
आधी औरतें
रोज़ सुबह गिटार बजाती हैं !
शाम को रोती हैं !
और हम—
अपने-अपने पिता को
न याद करने की कोशिशों में
दिन बिताते हैं !
सिर्फ़ दिन बिताते हैं !
हमारे पिता
दे गए हैं हमें-
बीच से कटी हुई एक-एक औरत !

कटी हुई औरतें
[१९६६]

टूटे हुए गमले में
झूल रहा है कैक्टस !
नीचे—निश्चिन्त होकर
सो रहा है एक कुत्ता !

पावों में टोपियाँ पहने
अपने जन्मदिन की तैयारियाँ करता मैं—
पढ़ रहा हूँ
प्रेमिकाओं के पत्र !

अक्षरों में छिपे मादा उल्लू
उड़-उड़ कर
बैठ रहे हैं मेरे सर और कंधों पर !

इन्हीं में से कोई
अभी
गमला गिरायेगा !
कुत्ता भूँकेगा !
जन्म दिन मनायेगा !

टूटे हुए गमले में झूल रहा है कैक्टस !!
उड़ रहे हैं अक्षरों में छिपे मादा उल्लू !

अक्षरों में छिपे उल्लू
[१९६६]

मेहनत
जब अग्नि-परीक्षा के लिए
प्रस्तुत होती है—
तुम्हारी छाती पर बैठी सुबह
उछालती है
पलाश के फूल !
जब
मंदिरों में
जगमगाते हैं आरती के दिये
घहराते हैं घण्टे
गूँजते हैं मंत्र
तुम मेरे पैरों पर माथा टेके
मन ही मन कुछ कहती हो !
तुम क्या कहती हो
मैं नहीं जानता !
मैं सिर्फ सोचता रहता हूँ !

जब
सड़क—गली—दरवाज़े
खिड़की—छज्जे—मुँडेर—वारजे
चारों तरफ ऊँघता है समय
तुम्हारी आँखों में नींद
होंठों पर मुसकराहट
और
हाथों में
साँकल खोलने की शक्ति होती है !
मैं तब भी कुछ सोचता ही रहता हूँ !

मैं क्या सोचता हूँ—तुम नहीं जानती !
तुम्हारी छाती पर बैठी सुबह
आँखों की नींद
होटों की मुसकराहट
और
हाथों की शक्ति भी नहीं जानती।
मैं क्या सोचता हूँ—कोई नहीं जानता !

जानता है सिर्फ़ :
प्लैटफार्म के आख़िरी छोर पर बैठा हुआ लँगड़ा !
रेल के डिब्बे में गाता अन्धा !
सेनिटोरियम की
मद्धिम रोशनी में
मुँह पर पट्टी बाँधे
खाँसता नवजवान !
पक्षाघात से पीड़ित कई बच्चों का पिता !
और कटे कानों वाला एक पागल
जिसके ठहाकों से
काँपते हैं आसमान के पर्दे !
और कोई नहीं जानता !

काश !
एलोरा और अजन्ता के मुँह में ज़बान होती !
दुनिया की आर्टगैलरियाँ चल पातीं !
लाइब्रेरियाँ देख पातीं !
ऐसा हो पाता काश !

कल
जब मिलों की चिमनियाँ
उगलेंगी धुआँ और लपटें !
धरती को कँपाती हुई दौड़ेंगी रेल गाड़ियाँ !
डैनों में
आकाश बाँधने के लिए
उद्यत होंगे वायुयान !
मैं
इस 'होने' का इन्तज़ार किये बग़ैर
उस जुलूस में शामिल हो जाऊँगा
जिसमें
कटी मंजिलों की यात्राएँ
अँधेरी ज़िन्दगी के गीत
विगलित फेफड़ों की घुटन
और
पंगु जिजीविषा की संवेदनायें होंगी !

हम उस दिशा में बढ़ेंगे
जहाँ एक युग समाधिस्थ है !
युग की समाधि पर
अर्पित होंगे
हमारे यातनाभोगी विश्वास !

उस क्षण
दिशाओं में
लटक रही होंगी कटी हुई टाँगें ।
हवा में उग रही होंगी दृष्टि-विहीन आँखें !

उड़ रहे होंगे सड़े हुए फेफड़े—कटे हुए कान !
तैर रही होंगी विकृत आकृतियाँ !
सुनाई पड़ रहे होंगे
रुदन—चीत्कार-क़हक़हे !
भर रहे होंगे—
बलग़म—खून—मवाद से
तालाब—नदी—समुन्दर !
और
तुम्हारी छाती पर बैठ कर
पलाश के फूल उछालने वाली सुबह
गुलाबों पर
पिघला हुआ फ़ौलाद उलीच रही होगी !

पलाश के फूल उछालने वाली सुबह पर
उठी हुई टिहकती एक टिटहरी
[१९६५]

हँसती सुबह !
लहराते नीले ताल !
गुलाब की पंखुरियों में बन्द चावल !
आकाश - ढकी दो पहाड़ियाँ !

रात के गर्म सिलवटी बिस्तर पर
सोया हुआ बच्चा
नींद में सिसकियाँ ले रहा है !
रोशनी की साँकल हिल रही है !

शाम से ही
उबल रहे हैं दो महासागर !
बरस रहे हैं दो सावन !

रोशनी की साँकल
[१९६४]

बहुत देर हो गई है। बहुत देर...... !
काफ़ी लम्बा रास्ता तय कर चुके हैं हम... !
फाड़कर फेंक दो इतिहास को और आज की बात करो !
आज की........ !

सूरज की पहली किरणों के साथ उठे हुए हमारे क़दमों से
रास्तों की खूबसूरत पगडण्डियाँ और बे-मानी मुलाक़ातें
इस क़दर लिपट गई हैं कि गिरने-गिरने को हो गये हैं हम !
हमारे हाथों को अब किसी तेज़ धार वाले चाकू
और जलती हुई मशाल की ज़रूरत है !
काफ़ी लम्बा रास्ता तय कर चुके हैं हम...... !

बाज़ारों में लाखों-लाख सामान एक साथ बिक रहे हैं !
फूल या बन्दूक अपनी-अपनी पसंद पर मुनहसिर है !
वे—जिन्हों ने हल-फावड़े-कुदाल बनाये
उन्हीं के हाथ बनाते हैं बन्दूक-पिस्तौल-मशीनगन...!
उधार ली गई आँखों में घृणा या आक्रोश भर कर
उनकी ओर देखने का साहस करने वालो !
हिरोशिमा से वियतनाम तक
अपनी लाशों का जला बिछाने वाले
ये वही लोग है ! वही लोग............ !
इन्हीं के बच्चों की किलकारियों पर दर्ज हैं फ़ौजी-बूटों की खराशें !
इन्हीं की लहलहाती फ़सलों पर टिका है बारूदी धुएँ का साया !

आसमान में उठे हुए उनके हाथ
हवा की लहरों का रुख़ बदल चुके हैं !
आग की खदानों में उतर रही है यह शताब्दी !
काफ़ी लम्बा रास्ता तय कर चुके हैं हम... !

जवानियाँ अब खाल से बाहर आ चुकी हैं !
कमसिनी ने फ्रॉक को आग में डाल दिया !
आदमीयत की चाकगिरहबानी
रहम की नहीं—इन्क़लाब की राह देख रही है !
और देख रही है : नीला ईंधन लेकर

चूल्हा जलाती दुलहिनों
और

दवा की खाली शीशियों की ओर
उदास नज़रों से तकती माओं को !

रोज़—करोड़ों-करोड़ हाथ
जो सिर्फ़ आग माँगने के लिए खुलते हैं—किसके हैं ?
इतिहास के पन्नों मे कहाँ हैं उनके नाम ?
फाड़कर फेंक दो—फेंक दो इतिहास को !
काफ़ी लम्बा रास्ता तय कर चुके हैं हम··· !
हम : जिन्हें खाकर पचा नहीं पाएँगी लोहे की भट्ठियाँ !
चिमनियों के सर पर चढ़ कर बोलेगी हमारी राख !
काफ़ी लम्बा रास्ता तय कर चुके हैं हम···
काफ़ी लम्बा·········!

आग की खदान में उतरी शताब्दी
[१९६६]

फले चेहरों
और
खिले अपरिचय का
हू-हू कर सन्नाटा उगलता एक जंगल !
दलदल में फँसा मैं (?)
जलती आँखों और खुले जबड़ों की भीड़ लिये
मेरी ओर
एक साथ बढ़ रही हैं दो राशियाँ !
काश ! इनकी आँखें आपस में टकरा जातीं !
अगली सुबह तक और जी लेता मैं !

कोई तो गुज़रता इधर से—
जिन्दगी के आख़िरी दौर में
'ग़ुलाम मुहम्मद' बने निराला,
अभावों को कन्धे पर बिठाये मुक्तिबोध !
कच्ची मौत मरने वाले सूर्यप्रताप—सतीश—देवेन !

कोई तो गुज़रता
मौत को चूम कर लौटे छविनाथ !
दर-दर की खाक़ छानता चन्द्रमौलि !
युवा सन्यासी ओमप्रभाकर !

कोई तो गुज़रता
कवि श्री नागार्जुन—शमशेर—कुमारेन्द्र !
भावक - अभिमित्र - मोहर उदयभान—कपिलआर्य !
मस्याधिक बन्धु विजय—अलख और शिवमंगल
नीलकान्त—केशनी—सुरेन्द्र—अजित—बालकृष्ण !

कोई तो गुज़रता
नरेश—नईम—उमाकान्त और नीलम।
मिलिन्द—राजशेखर—गोपाल और शंकर।
नहीं तो···नहीं तो सड़ी हुई किडनी
और गली अँतड़ियों के बूते
मौत की चुनौतियाँ झेलते राजकमल!
कोई न कोई तो गुज़रता ही!
काश! इनकी आँखें आपस में टकरा जातीं!

अगली सुबह मैं—
नये सिरे से ज़िन्दगी की शुरुआत करता!
ज़िन्दगी की शुरुआत :
नवल—अशोक—अनाम—मानू [पत्नी] और प्रतिभा
[पुत्री] के साथ!
अगली सुबह तक और जी लेता मैं!
इनकी आँखें···इनकी आँखें आपस में टकरा जातीं काश!

अगली सुबह तक
[१९६६]